International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना का विकास : आदिकाल से समकालीन साहित्य तक

आलोक कुमार भारद्वाज
सहायक आचार्य हिंदी राजकीय महाविद्यालय समथर जनपद झाँसी

सारांश
हिंदी साहित्य का इतिहास भारतीय समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों का सजीव प्रतिबिंब है। हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना का विकास विभिन्न युगों की परिस्थितियों, मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में निरंतर होता रहा है। आदिकालीन साहित्य में वीरता, धर्म और सामंती व्यवस्था की अभिव्यक्ति प्रमुख रही, जबकि भक्तिकालीन साहित्य में कबीर, रैदास और तुलसीदास जैसे कवियों ने धार्मिक आडंबरों, जातिगत भेदभाव तथा सामाजिक असमानताओं पर प्रश्न उठाए। रीतिकाल में श्रृंगार और राजाश्रय की प्रवृत्तियाँ प्रभावी रहीं, फिर भी तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की झलक साहित्य में दिखाई देती है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक सुधार, स्त्री शिक्षा, स्वतंत्रता आंदोलन तथा जातिगत शोषण जैसे विषय हिंदी साहित्य के केंद्र में आए। प्रेमचंद, निराला, महादेवी वर्मा और नागार्जुन जैसे साहित्यकारों ने सामाजिक विषमताओं, ग्रामीण जीवन, स्त्री-समस्याओं और वंचित वर्गों के संघर्षों को अभिव्यक्ति प्रदान की। समकालीन हिंदी साहित्य में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी चेतना, पर्यावरणीय सरोकार तथा लोकतांत्रिक मूल्यों को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य आदिकाल से समकालीन साहित्य तक सामाजिक चेतना के स्वरूप, विकास, परिवर्तन और प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि हिंदी साहित्य सामाजिक परिवर्तन, मानवीय संवेदना और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक माध्यम रहा है।

मुख्य शब्द: सामाजिक चेतना, हिंदी साहित्य, सामाजिक परिवर्तन, जातिगत असमानता, समकालीन विमर्श।

1. प्रस्तावना

यह खंड शोध की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इसमें सामाजिक चेतना का अर्थ, साहित्य से उसका संबंध तथा हिंदी साहित्य में उसकी ऐतिहासिक भूमिका का आरंभिक परिचय दिया गया है।

1.1 सामाजिक चेतना का अर्थ एवं अवधारणा

सामाजिक चेतना से आशय उस बोध से है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संरचना, उसकी विषमताओं, परंपराओं और परिवर्तन की संभावनाओं को पहचानता है। यह केवल समाज के बारे में

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

जानकारी नहीं, बल्कि अन्याय के प्रति संवेदनशीलता और उसे बदलने की आकांक्षा भी है। व्यक्ति जब अपने निजी अनुभव को समूह, वर्ग, जाति, लिंग या समुदाय के व्यापक अनुभव से जोड़कर देखता है, तब सामाजिक चेतना जन्म लेती है। भारतीय संदर्भ में इस चेतना का केंद्र प्रायः जाति, धर्म, लिंग और आर्थिक असमानता के प्रश्न रहे हैं। इसीलिए यहाँ सामाजिक चेतना का अर्थ परंपरा की आलोचनात्मक समीक्षा और समतामूलक समाज की खोज से गहराई से जुड़ा है (ओमवेट, 2008)।

सामाजिक चेतना स्थिर नहीं होती। प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ उसके स्वरूप को बदल देती हैं। किसी काल में यह धार्मिक सुधार के रूप में प्रकट होती है, तो किसी काल में राष्ट्रीय मुक्ति, वर्ग-संघर्ष या अस्मिता-विमर्श के रूप में। इस दृष्टि से सामाजिक चेतना एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसका अध्ययन उसके देश-काल के संदर्भ में ही किया जा सकता है (लॉरेन्ज़ेन, 2006)।

1.2 सामाजिक चेतना और साहित्य का अन्तर्सम्बन्ध

साहित्य और समाज का संबंध परस्पर निर्भरता का है। साहित्य समाज से अपनी सामग्री ग्रहण करता है और बदले में समाज की संवेदना, मूल्यों और दृष्टि को प्रभावित करता है। साहित्यकार अपने समय का साक्षी होता है, किंतु वह केवल दर्पण नहीं होता; वह दीपक की तरह मार्ग भी दिखाता है। साहित्य में व्यक्त सामाजिक चेतना पाठक को अपने परिवेश पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करती है।

साहित्य की भाषा, उसके पाठक-वर्ग और उसके संरक्षक भी उसकी सामाजिक चेतना को तय करते हैं। संस्कृत से देशी भाषाओं की ओर हुए परिवर्तन ने साहित्य को राजदरबार और पुरोहित-वर्ग से निकालकर व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाया। पोलक के अनुसार देशी भाषाओं का साहित्यिक उदय सत्ता, संस्कृति और पहचान के नए संबंधों का परिणाम था (पोलॉक, 2006)। हिंदी साहित्य का इतिहास इसी देशीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

1.3 हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिंदी साहित्य का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास भारतीय समाज के अनेक उतार-चढ़ावों का साक्षी है। आदिकाल के युद्धग्रस्त सामंती परिवेश से लेकर भक्ति आंदोलन की लोकधर्मी लहर, रीतिकाल की दरबारी संस्कृति, उन्नीसवीं सदी के नवजागरण, स्वाधीनता संग्राम और स्वातंत्र्योत्तर लोकतांत्रिक भारत तक, हर युग ने हिंदी साहित्य की सामाजिक चेतना को नया रूप दिया। मैकग्रेगर ने हिंदी के अंतःक्षेत्रीय साहित्यिक भाषा के रूप में विकास को इसी लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा है (मैक्ग्रेगर, 2003)। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों में सामाजिक चेतना के स्वरूप, उसकी प्रवृत्तियों और सीमाओं का विश्लेषण करना है। साथ ही यह देखना भी इसका लक्ष्य है कि किस प्रकार यह चेतना क्रमशः धार्मिक सुधार से आगे बढ़कर सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और अस्मिता के प्रश्नों तक पहुँची।

2. हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना का प्रारम्भिक स्वरूप

यह खंड आदिकालीन हिंदी साहित्य की सामाजिक परिस्थितियों और वीरगाथा परंपरा का विश्लेषण करता है, जिसमें सामंती व्यवस्था, धार्मिक प्रभाव और जनजीवन के चित्रण पर विशेष ध्यान दिया गया है।

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

2.1 आदिकालीन हिंदी साहित्य की सामाजिक परिस्थितियाँ

आदिकाल (लगभग दसवीं से चौदहवीं शताब्दी) राजनीतिक अस्थिरता और सामंती विखंडन का युग था। उत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, जिनके बीच निरंतर संघर्ष चलते रहते थे। बाहरी आक्रमणों ने इस अस्थिरता को और गहरा किया। समाज में वर्ण-व्यवस्था कठोर थी और राजपूत सामंतों का वर्चस्व था। सामान्य जन का जीवन युद्ध, कर और असुरक्षा के बीच बीतता था। इस काल में अपभ्रंश से विकसित होती पुरानी हिंदी धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा का रूप ले रही थी (मैक्ग्रेगर, 2003)।

2.2 वीरगाथा साहित्य में सामाजिक एवं सामूहिक चेतना

आदिकाल की सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रवृत्ति वीरगाथा या रासो काव्य है। पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो और बीसलदेव रासो जैसी रचनाएँ आश्रयदाता राजाओं की वीरता, युद्ध और प्रेम का वर्णन करती हैं। इन रचनाओं में सामाजिक चेतना मुख्यतः सामूहिक गौरव, कुल-मर्यादा और शौर्य के आदर्श के रूप में प्रकट होती है। चारण कवि अपने संरक्षक के यश-गान द्वारा समूह की एकता और पहचान को सुदृढ़ करते थे।

किंतु यह चेतना व्यापक जनसमाज की चेतना नहीं थी। यह शासक वर्ग के मूल्यों पर केंद्रित थी। स्त्री प्रायः युद्ध का कारण या पुरस्कार के रूप में चित्रित होती है। पोलक के विश्लेषण के अनुसार इस युग का देशी भाषा-साहित्य राजसत्ता की वैधता स्थापित करने का एक साधन भी था (पोलॉक, 2006)। इसलिए वीरगाथा काव्य की सामूहिकता वस्तुतः सामंती सामूहिकता थी।

इसके बावजूद वीरगाथा परंपरा का एक रूप ऐसा भी है जो जनजीवन से गहराई से जुड़ा रहा। जगनिक से संबद्ध आल्हखंड की गाथाएँ सदियों तक लोकगायकों द्वारा गाँव-गाँव में गाई जाती रहीं। वर्षा ऋतु में किसान समुदाय के बीच आल्हा-गायन आज भी बुंदेलखंड और अवध में लोकप्रिय है। यहाँ वीरता का आदर्श दरबार से निकलकर लोक की सामूहिक स्मृति का हिस्सा बन जाता है। आल्हा-ऊदल जैसे नायक केवल राजवंश के प्रतिनिधि नहीं, बल्कि साहस, निष्ठा और मित्रता के लोकप्रिय प्रतीक बन गए। इस प्रकार वीरगाथा की सामंती सामूहिकता लोक-परंपरा में पहुँचकर जनसामान्य की सांस्कृतिक पहचान का आधार भी बनी। यह तथ्य दिखाता है कि साहित्य का सामाजिक अर्थ केवल उसके रचना-संदर्भ से नहीं, बल्कि उसके ग्रहण और प्रसार की प्रक्रिया से भी निर्धारित होता है।

2.3 धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव

आदिकाल केवल वीरगाथाओं का युग नहीं था। इसी काल में सिद्धों और नाथों का साहित्य भी रचा गया, जिसमें सामाजिक चेतना का अधिक तीखा स्वर मिलता है। सरहपा जैसे सिद्ध कवियों ने कर्मकांड, ब्राह्मणवादी पाखंड और बाह्याचार का खंडन किया। गोरखनाथ और नाथ योगियों ने जाति-भेद की उपेक्षा कर आंतरिक साधना पर बल दिया। जैन कवियों ने अहिंसा, संयम और नैतिक आचरण का संदेश दिया।

लोरेंज़न ने दिखाया है कि नाथ परंपरा और बाद के निर्गुण संतों के बीच गहरा वैचारिक संबंध है (लॉरेन्ज़ेन, 2004)। इस प्रकार सिद्ध-नाथ साहित्य भक्तिकालीन सामाजिक विद्रोह की पूर्वपीठिका तैयार करता है। धार्मिक असहमति का यह स्वर आगे चलकर कबीर और रैदास में पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देता है।

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

2.4 आदिकालीन साहित्य में जनजीवन का चित्रण

आदिकालीन साहित्य में जनजीवन का प्रत्यक्ष चित्रण सीमित है, फिर भी कुछ रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अमीर खुसरो की पहेलियाँ, मुकरियाँ और लोकगीत आम लोगों की भाषा, हास्य और दैनिक जीवन को अभिव्यक्त करते हैं। विद्यापति की पदावली में मिथिला के लोकजीवन, उत्सवों और प्रेम-भावना की झलक मिलती है। ढोला मारू रा दूहा जैसी लोककथात्मक रचनाएँ सामान्य मनुष्य की भावनाओं को वाणी देती हैं।

इन रचनाओं से स्पष्ट है कि आदिकाल में सामाजिक चेतना का स्वरूप बहुस्तरीय था। एक ओर दरबारी वीरकाव्य सामंती मूल्यों का पोषण करता था, तो दूसरी ओर सिद्ध-नाथ और लोक-साहित्य में असहमति और जनपक्षधरता के बीज मौजूद थे।

3. भक्तिकालीन साहित्य में सामाजिक चेतना

इस खंड में भक्तिकालीन साहित्य की सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ कबीर, रैदास और सगुण कवियों के माध्यम से जाति-विरोध तथा समानता की चेतना का अध्ययन किया गया है।

3.1 भक्तिकाल की सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल (लगभग चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी) को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि साहित्य पहली बार व्यापक रूप से जनसाधारण की भाषा और उसके अनुभवों से जुड़ा। दिल्ली सल्तनत और फिर मुगल शासन के दौर में समाज में गहरे परिवर्तन हो रहे थे। शहरी शिल्पकार, व्यापारी और निम्न जातियों के लोग नई आर्थिक भूमिकाओं में उभर रहे थे, किंतु धार्मिक और सामाजिक संरचना में उन्हें सम्मान नहीं मिलता था।

भक्ति आंदोलन ने ईश्वर तक पहुँच को पुरोहित, कर्मकांड और संस्कृत की मध्यस्थता से मुक्त कर दिया। लोरेंज़न के अनुसार निर्गुण भक्ति आंदोलन को उन सामाजिक समूहों की धार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में पढ़ा जा सकता है जो वर्ण-व्यवस्था में हाशिये पर थे (लॉरेन्ज़ेन, 2004)। हॉली ने भी भक्ति को एक ऐसे सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में देखा है जिसकी व्याख्याएँ आज तक बदलती रही हैं (हॉली, 2005)।

3.2 निर्गुण भक्ति काव्य में सामाजिक समानता की भावना

निर्गुण संतों ने ऐसे ईश्वर की उपासना की जो निराकार है और सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। इस आध्यात्मिक दृष्टि का सीधा सामाजिक परिणाम यह था कि यदि ईश्वर सबमें है, तो जन्म के आधार पर ऊँच-नीच का कोई औचित्य नहीं। कबीर, रैदास, दादू, सेन और पीपा जैसे संत अधिकतर श्रमजीवी और निम्न मानी जाने वाली जातियों से आए थे। उनकी वाणी में अनुभव की प्रामाणिकता और व्यवस्था के प्रति प्रश्नाकुलता दोनों हैं।

इन संतों ने लोकभाषा, सधुक्कड़ी और साखी-सबद जैसे सरल रूपों को अपनाया, जिससे उनका संदेश अनपढ़ जनता तक पहुँचा। गेल ऑम्वेट ने इन संतों को भारत के जाति-विरोधी बौद्धिक इतिहास की एक प्रमुख कड़ी माना है (ओमवेट, 2008)।

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

3.3 कबीरदास के साहित्य में जाति-विरोध एवं सामाजिक सुधार

कबीर भक्तिकालीन सामाजिक चेतना के सबसे प्रखर प्रतिनिधि हैं। जुलाहा परिवार में पले कबीर ने हिंदू और मुसलमान दोनों के पाखंड पर समान रूप से प्रहार किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा, तीर्थ, व्रत, रोज़ा, नमाज़ और जनेऊ जैसे बाह्याचारों को निरर्थक बताया। उनकी प्रसिद्ध साखी है:

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥

इस साखी में मनुष्य का मूल्य उसके ज्ञान और आचरण से आँका गया है, जन्म से नहीं। हेस और सिंह द्वारा अनूदित बीजक कबीर की इस विद्रोही वाणी को उसकी तीव्रता के साथ प्रस्तुत करता है (हेस एवं सिंह, 2002)। कैलेवर्ट और उनके सहयोगियों ने कबीर के पदों की पांडुलिपि-परंपरा का अध्ययन कर दिखाया कि उनकी वाणी विभिन्न संप्रदायों में किस प्रकार संरक्षित और रूपांतरित हुई (कैलेवार्ट एवं अन्य, 2000)। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर को एक आरंभिक आधुनिक चेतना के कवि के रूप में देखा है, जिनकी कविता में व्यक्ति की गरिमा और विवेक की प्रतिष्ठा है (अग्रवाल, 2009)। धरवाडकर ने भी कबीर को जुलाहे के गीतों के माध्यम से श्रम और अध्यात्म को जोड़ने वाले कवि के रूप में रेखांकित किया है (धारवाडकर, 2003)। इस प्रकार कबीर का सामाजिक सुधार केवल नैतिक उपदेश नहीं, बल्कि व्यवस्था की बुनियादी आलोचना है।

3.4 रैदास के साहित्य में समतामूलक समाज की परिकल्पना

रैदास (रविदास) चर्मकार समुदाय से थे और उन्होंने अपने व्यवसाय को कभी हीन नहीं माना। उनकी वाणी में विनम्रता के साथ गहरा आत्मसम्मान है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति "मन चंगा तो कठौती में गंगा" बाहरी तीर्थ की तुलना में आंतरिक पवित्रता को श्रेष्ठ ठहराती है। रैदास ने एक आदर्श समाज की कल्पना 'बेगमपुरा' के रूप में की, जहाँ न दुःख है, न कर, न भय और न ऊँच-नीच।

ऐसा चाहूँ राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न। छोट बड़ो सब सम बसै, रैदास रहै प्रसन्न॥

ऑम्वेट ने बेगमपुरा को भारतीय चिंतन में पहली स्पष्ट सामाजिक यूटोपिया माना है, जो धार्मिक मुक्ति के साथ आर्थिक और सामाजिक मुक्ति को भी जोड़ती है (ओमवेट, 2008)। आज के दलित चिंतन में रैदास को एक महत्वपूर्ण पुरखे के रूप में स्मरण किया जाता है (हंट, 2014)।

3.5 सगुण भक्ति काव्य और सामाजिक दृष्टि

सगुण भक्ति काव्य में सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत परंपरा के भीतर रहकर व्यक्त हुई। तुलसीदास ने रामचरितमानस में 'रामराज्य' के रूप में एक आदर्श लोकमंगलकारी शासन की कल्पना की, यद्यपि उनकी दृष्टि वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति अधिक आलोचनात्मक नहीं थी। सूरदास ने कृष्ण-लीला के माध्यम से ग्रामीण ब्रज-जीवन, गोप-गोपियों और वात्सल्य का सजीव चित्रण किया।

मीराबाई की कविता इस युग में स्त्री-स्वातंत्र्य का सबसे सशक्त स्वर है। राजकुल की मर्यादा, पति-परिवार और लोकलाज को त्यागकर कृष्ण को अपना एकमात्र आराध्य मानना उस समय पितृसत्तात्मक व्यवस्था

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

को सीधी चुनौती थी। हॉली ने मीरा, सूर और कबीर की तुलना करते हुए दिखाया है कि भक्ति के भीतर ही सामाजिक दृष्टि के अनेक भिन्न स्वर मौजूद थे (हॉली, 2005)।

4. रीतिकालीन साहित्य में सामाजिक चेतना

यह खंड रीतिकाल की दरबारी संस्कृति, श्रृंगारिक प्रवृत्तियों और राजाश्रय के संदर्भ में सामाजिक जीवन के चित्रण तथा इस काल की चेतना की सीमाओं का मूल्यांकन करता है।

4.1 रीतिकाल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

रीतिकाल (लगभग सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक) मुगल साम्राज्य के वैभव और फिर उसके क्रमिक पतन का युग था। केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने पर अनेक क्षेत्रीय राजदरबार उभरे, जो कवियों और कलाकारों के संरक्षक बने। समाज में सामंती विलासिता और आम जनता की आर्थिक दुर्दशा का गहरा विरोधाभास था। किसान करों के बोझ से दबे थे, जबकि दरबारों में ऐश्वर्य और कला-प्रदर्शन का बोलबाला था।

4.2 रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ श्रृंगार-वर्णन, नायिका-भेद, अलंकार-निरूपण और काव्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रंथों की रचना थीं। केशवदास, चिंतामणि, मतिराम, देव और पद्माकर जैसे आचार्य कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। बिहारी की सतसई ने कम शब्दों में गहन भाव व्यक्त करने की कला को चरम पर पहुँचाया। एलिसन बुश ने रीतिकाल को केवल पतनशील श्रृंगारिकता के रूप में देखने की पारंपरिक धारणा पर प्रश्न उठाया है। उनके अनुसार यह एक परिष्कृत शास्त्रीय साहित्य था जिसने मुगल भारत की बहुभाषी दरबारी संस्कृति में अपनी विशिष्ट जगह बनाई (बुश, 2011)।

4.3 दरबारी संस्कृति एवं सामाजिक जीवन का चित्रण

रीतिकालीन कविता मुख्यतः दरबार के लिए और दरबार के बारे में थी। इसमें उत्सव, ऋतु-वर्णन, वस्त्राभूषण और राजसी जीवन के चित्र भरपूर हैं। फिर भी कुछ कवियों की रचनाओं में तत्कालीन समाज की झलक मिलती है। बिहारी के कुछ दोहों में ग्रामीण जीवन और लोक-व्यवहार के संकेत हैं। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल की प्रशंसा में वीर रस की रचनाएँ लिखकर राजनीतिक प्रतिरोध की चेतना व्यक्त की।

रीतिमुक्त कवियों, जैसे घनानंद, बोधा और आलम, ने लक्षण-ग्रंथों की बँधी परिपाटी से हटकर व्यक्तिगत प्रेम-पीड़ा को स्वच्छंद रूप में अभिव्यक्त किया। गिरिधर कविराय और वृंद जैसे नीतिकवियों की कुंडलियों और दोहों में व्यावहारिक जीवन, लोकनीति और सामाजिक अनुभव की शिक्षा मिलती है।

सेनापति के ऋतु-वर्णन में खेत, वर्षा, धूप और ग्रामीण परिवेश के ऐसे चित्र मिलते हैं जो दरबारी सीमाओं से कुछ हद तक बाहर निकलते हैं। रहीम के दोहों में दया, विनम्रता, मित्रता और दरिद्रता के प्रति संवेदना का व्यावहारिक स्वर है, जो सामान्य पाठक को सीधे स्पर्श करता है। इसी काल में लोक-साहित्य की धारा भी समानांतर रूप से बहती रही। बारहमासा, कजरी, बिरहा और श्रम-गीतों में किसान स्त्रियों की विरह-वेदना,

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

मौसम की मार और रोज़मर्रा के संघर्ष अभिव्यक्त होते रहे। यह लोक-साहित्य शिष्ट साहित्य के इतिहास में प्रायः उपेक्षित रहा, किंतु सामाजिक चेतना के अध्ययन के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत है। इससे स्पष्ट होता है कि दरबारी कविता के समानांतर जनता का अपना सांस्कृतिक जगत भी सक्रिय था।

4.4 रीतिकालीन साहित्य में सामाजिक चेतना की सीमाएँ

रीतिकालीन साहित्य की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह संरक्षक-आश्रित था। कवि की आजीविका राजा पर निर्भर थी, इसलिए उसकी दृष्टि भी प्रायः दरबारी रुचि से बँधी रही। स्त्री को मुख्यतः नायिका और भोग्या के रूप में चित्रित किया गया; उसकी सामाजिक स्थिति और पीड़ा का प्रश्न लगभग अनुपस्थित है। किसान, श्रमिक और निम्न जातियों का जीवन इस साहित्य के केंद्र में नहीं आ सका।

फिर भी यह कहना उचित नहीं कि यह युग पूर्णतः सामाजिक चेतना से रहित था। भाषा का परिष्कार, काव्यशास्त्रीय चिंतन का लोकभाषा में अवतरण और नीतिकाव्य की व्यावहारिक दृष्टि इस काल की उपलब्धियाँ हैं (बुश, 2011)। किंतु भक्तिकाल की तुलना में इस युग में सामाजिक चेतना का स्वर निश्चित रूप से मंद पड़ गया।

5. आधुनिक हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना का विकास

इस खंड में भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, प्रेमचंद, छायावाद, प्रगतिवाद और स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के माध्यम से नवजागरण, राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक यथार्थ के विकास को समझाया गया है।

5.1 भारतेंदु युग और हिंदी नवजागरण

आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ माना जाता है। अंग्रेज़ी शासन, छापाखाने, पत्र-पत्रिकाओं और नई शिक्षा ने एक नए मध्यवर्गीय पाठक-वर्ग को जन्म दिया। भारतेंदु ने नाटकों, निबंधों और पत्रकारिता के माध्यम से देश की दुर्दशा, आर्थिक शोषण और सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों में औपनिवेशिक लूट और प्रशासनिक अराजकता पर तीखा व्यंग्य है। निज भाषा की उन्नति को सभी उन्नतियों का मूल मानकर उन्होंने भाषाई और सांस्कृतिक आत्मसम्मान का प्रश्न उठाया।

वीर भारत तलवार ने उन्नीसवीं सदी के हिंदी नवजागरण का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि इसमें सुधारवाद और रूढ़िवाद के बीच निरंतर खींचतान थी (तलवार, 2002)। इस नवजागरण ने स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह और विधवा-विवाह जैसे प्रश्न उठाए, किंतु कई बार हिंदू पुनरुत्थानवादी दृष्टि भी उसमें घुल गई। चारु गुप्ता ने इसी दौर में स्त्री-देह, अश्लीलता और सामुदायिक पहचान को लेकर गढ़े गए विमर्शों का अध्ययन किया है (गुप्ता, 2001)।

इसी नवजागरण के भीतर एक भिन्न स्वर भी उभर रहा था। 1914 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' को आधुनिक हिंदी में दलित पीड़ा की आरंभिक अभिव्यक्तियों में गिना जाता है। भोजपुरी में लिखी इस कविता में एक अछूत व्यक्ति ईश्वर और समाज दोनों से अपने अपमान का प्रश्न पूछता है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में स्वामी अछूतानंद के आदि हिंदू आंदोलन ने भी उत्तर भारत में

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

दलित आत्मसम्मान की चेतना को संगठित रूप दिया। इन प्रयासों से स्पष्ट है कि सवर्ण नेतृत्व वाले सुधार आंदोलन के समानांतर दलित समुदाय की अपनी स्वतंत्र आवाज़ भी आकार ले रही थी। यही आवाज़ आगे चलकर समकालीन दलित साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बनी।

5.2 द्विवेदी युग : सुधार और राष्ट्रीय चेतना

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस युग के साहित्य में नैतिकता, आदर्शवाद, समाज-सुधार और राष्ट्रप्रेम प्रमुख स्वर थे। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' ने देश के अतीत-गौरव और वर्तमान पतन की तुलना कर राष्ट्रीय जागरण का संदेश दिया। उनकी रचनाओं में उपेक्षित स्त्री-पात्रों, जैसे उर्मिला और यशोधरा, को भी नई सहानुभूति के साथ देखा गया।

फ्रांचेस्का ओरसिनी ने 1920 से 1940 के बीच हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण का अध्ययन किया है। उनके अनुसार पत्रिकाएँ, साहित्यिक संस्थाएँ और प्रकाशन-जगत राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार के प्रमुख माध्यम बने (ओरसिनी, 2002)।

5.3 प्रेमचंद, छायावाद और प्रगतिवाद

प्रेमचंद आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद के प्रणेता हैं। 'गोदान', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'सेवासदन' जैसे उपन्यासों तथा 'कफ़न', 'सद्गति' और 'ठाकुर का कुआँ' जैसी कहानियों में उन्होंने किसान, दलित और स्त्री के शोषण का यथार्थ चित्र खींचा। 'गोदान' का होरी भारतीय किसान की त्रासदी का प्रतीक बन गया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए प्रेमचंद ने साहित्य को मनोरंजन के बजाय जीवन की आलोचना और सामाजिक परिवर्तन का साधन माना।

छायावाद को प्रायः व्यक्तिवादी और कल्पनाप्रधान माना जाता है, किंतु निराला और पंत जैसे कवियों में भी सामाजिक संवेदना स्पष्ट है। निराला की कविताओं में श्रमिक स्त्री, भिक्षुक और दलित-पीड़ित मनुष्य के प्रति गहरी करुणा है। प्रियंवदा गोपाल ने प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का अध्ययन करते हुए दिखाया है कि इसमें वर्ग के साथ-साथ लिंग और राष्ट्र के प्रश्न भी गहराई से जुड़े थे (गोपाल, 2005)। प्रगतिवाद ने मार्क्सवादी दृष्टि से किसान-मज़दूर के संघर्ष को साहित्य का केंद्र बनाया।

5.4 स्वातंत्र्योत्तर साहित्य : नई कविता, नई कहानी और मोहभंग

स्वतंत्रता के बाद आज़ादी से जुड़ी आशाएँ धीरे-धीरे मोहभंग में बदल गईं। नई कविता, नई कहानी और साठोत्तरी साहित्य में भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी, शहरी अकेलेपन और व्यवस्था के प्रति आक्रोश के स्वर उभरे। मुक्तिबोध ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के आत्मसंघर्ष और सत्ता के चरित्र की गहरी पड़ताल की। धूमिल ने संसदीय लोकतंत्र की विडंबनाओं पर तीखा प्रहार किया। नागार्जुन ने जनकवि के रूप में किसानों और गरीबों की आवाज़ को कविता में स्थान दिया।

फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' ने आंचलिक उपन्यास की परंपरा शुरू की, जिसमें ग्रामीण भारत की जातिगत राजनीति और विकास के अंतर्विरोध सामने आए। श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' ने व्यंग्य के

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

माध्यम से स्वतंत्र भारत की संस्थागत सड़न को उजागर किया। यही मोहभंग आगे चलकर अस्मितामूलक विमर्शों की भूमि बना।

6. समकालीन हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना

यह खंड समकालीन समाज की समस्याओं और साहित्यिक अभिव्यक्ति के साथ दलित, स्त्री तथा आदिवासी विमर्श के माध्यम से अस्मिता, अधिकार और सामाजिक न्याय की चेतना का विश्लेषण करता है।

6.1 समकालीन समाज की प्रमुख समस्याएँ एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों और इक्कीसवीं सदी में भारतीय समाज ने भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारवाद, सांप्रदायिकता, विस्थापन और पर्यावरण-संकट जैसी नई चुनौतियों का सामना किया। मंडल आयोग की सिफ़ारिशों के बाद जाति का प्रश्न राजनीति और साहित्य दोनों के केंद्र में आ गया। समकालीन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब हाशिये के समुदाय स्वयं अपनी कथा कहने लगे। 'सहानुभूति' के साहित्य के स्थान पर 'स्वानुभूति' का साहित्य सामने आया। दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श इसी परिवर्तन की देन हैं।

उदय प्रकाश, संजीव, असग़र वजाहत, अलका सरावगी और कमलेश्वर जैसे कथाकारों ने बदलते भारत के अंतर्विरोधों को कथा का विषय बनाया। उदय प्रकाश की कहानियों में बाज़ार, सत्ता और जातिगत अपमान के बीच पिसते आम आदमी का चित्र है। कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' ने विभाजन और सांप्रदायिकता के इतिहास पर गहरा प्रश्न उठाया। किसान-संकट, शहरीकरण, विस्थापन और पर्यावरण-विनाश पर लिखी गई रचनाएँ बताती हैं कि समकालीन साहित्य विकास के प्रचलित मॉडल की आलोचना भी कर रहा है। कविता में भी राजेश जोशी, अरुण कमल और मंगलेश डबराल जैसे कवियों ने उपभोक्तावादी संस्कृति और लोकतंत्र के क्षरण पर तीखी टिप्पणी की। इस प्रकार समकालीन सामाजिक चेतना बहुकेंद्रित और बहुस्वरीय हो गई है।

6.2 दलित साहित्य में सामाजिक न्याय एवं समानता की चेतना

हिंदी दलित साहित्य मराठी दलित साहित्य और डॉ. भीमराव आंबेडकर के विचारों से गहरे प्रभावित है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' और तुलसीराम की 'मुर्दहिया' ने जातिगत अपमान के अनुभव को अभूतपूर्व प्रामाणिकता के साथ दर्ज किया। वाल्मीकि ने दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को पारंपरिक रस-सिद्धांत से भिन्न बताया, जिसका आधार पीड़ा, प्रतिरोध और मुक्ति की चेतना है (वाल्मीकि, 2001)।

शरणकुमार लिंबाले के अनुसार दलित साहित्य का मूल्यांकन उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता और मानवीय मुक्ति के मानदंड पर होना चाहिए, न कि अभिजात सौंदर्यबोध के आधार पर (लिंबाले, 2004)। कँवल भारती ने दलित साहित्य की अवधारणा को आंबेडकरवादी चिंतन से जोड़कर स्पष्ट किया है (भारती, 2006)। राज कुमार ने दलित आत्मकथाओं को जाति, राष्ट्र और पहचान के अंतर्संबंधों के रूप में पढ़ा है

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

(कुमार, 2010)। लॉरा ब्रूक ने हिंदी दलित साहित्य की प्रतिरोधी वक्तृता का विश्लेषण किया (ब्रुएक, 2014), जबकि सारा बेथ हंट ने प्रतिनिधित्व की राजनीति के प्रश्न को रेखांकित किया (हंट, 2014)।

6.3 स्त्री-विमर्श और लैंगिक समानता की चेतना

समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श ने पितृसत्ता, देह, विवाह, परिवार और श्रम के प्रश्नों पर नई बहस छेड़ी। महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' से शुरू हुई यह परंपरा मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा और चित्रा मुद्गल जैसी लेखिकाओं तक विकसित हुई। कृष्णा सोबती ने स्त्री की यौनिकता और स्वायत्तता को बेबाकी से अभिव्यक्त किया। मैत्रेयी पुष्पा ने ग्रामीण स्त्री के संघर्ष को केंद्र में रखा।

शर्मिला रेगे ने दलित स्त्रियों की आत्मकथात्मक गवाहियों का अध्ययन करते हुए दिखाया कि जाति और लिंग का शोषण परस्पर गुँथा हुआ है (रेगे, 2006)। इस दृष्टि ने स्त्री-विमर्श को सवर्ण मध्यवर्गीय दायरे से बाहर निकालकर अधिक समावेशी बनाया। कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' जैसी आत्मकथाएँ इसी दोहरी पीड़ा की साक्षी हैं।

6.4 आदिवासी साहित्य में अस्मिता, अधिकार एवं सांस्कृतिक संघर्ष

आदिवासी साहित्य समकालीन हिंदी साहित्य का सबसे नया और महत्वपूर्ण विमर्श है। रामदयाल मुंडा, वंदना टेटे, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन और ग्रेस कुजूर जैसे रचनाकारों ने जल, जंगल और ज़मीन से बेदखली, विस्थापन, सांस्कृतिक दमन और मुख्यधारा की उपेक्षा के प्रश्न उठाए। महाश्वेता देवी और रणेंद्र जैसे लेखकों ने भी आदिवासी संघर्षों को कथा-साहित्य में स्थान दिया।

विर्जिनियस खाखा के अनुसार उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राज्य और आदिवासी समाज के संबंध विकास, विस्थापन और अधिकारों के तनाव से परिभाषित होते हैं (खाखा, 2008)। आदिवासी साहित्य इसी तनाव की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। यह साहित्य प्रकृति के साथ सहजीवन, सामूहिकता और समानता पर आधारित जीवन-दर्शन को आधुनिक उपभोक्तावाद के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करता है।

7. हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना का समग्र मूल्यांकन

यह खंड आदिकाल से समकालीन काल तक की विकास-यात्रा का तुलनात्मक मूल्यांकन करता है तथा सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका और वर्तमान प्रासंगिकता पर विचार करता है।

7.1 आदिकाल से समकालीन काल तक सामाजिक चेतना की विकास-यात्रा

हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना की यात्रा सामंती सामूहिकता से आरंभ होकर लोकतांत्रिक अस्मिता तक पहुँची है। आदिकाल में यह चेतना कुल और राज्य के गौरव तक सीमित थी, जबकि सिद्ध-नाथ साहित्य में असहमति के बीज थे। भक्तिकाल में यह आध्यात्मिक समानता के माध्यम से सामाजिक समानता की माँग बनी। रीतिकाल में यह दरबारी संस्कृति के बोझ तले दब गई। आधुनिक काल में यह राष्ट्रीय मुक्ति, समाज-सुधार और वर्ग-संघर्ष से जुड़ी और समकालीन दौर में हाशिये के समुदायों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में सामने आई।

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

7.2 विभिन्न साहित्यिक युगों की सामाजिक चेतना का तुलनात्मक अध्ययन

युग	सामाजिक चेतना का मूल स्वर	प्रमुख रचनाकार	सीमा
आदिकाल	सामूहिक शौर्य, धार्मिक असहमति	चंदबरदाई, गोरखनाथ, खुसरो	सामंती दृष्टि
भक्तिकाल	आध्यात्मिक एवं सामाजिक समानता	कबीर, रैदास, मीरा, तुलसी	धार्मिक ढाँचे के भीतर
रीतिकाल	श्रृंगार, नीति, दरबारी जीवन	बिहारी, देव, भूषण, घनानंद	संरक्षक-आश्रित
आधुनिक काल	नवजागरण, राष्ट्रवाद, यथार्थवाद	भारतेंदु, प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध	मध्यवर्गीय, सवर्ण-केंद्रित
समकालीन	अस्मिता, सामाजिक न्याय, अधिकार	वाल्मीकि, सोबती, पुतुल	विमर्शों का विखंडन

इस तुलना से स्पष्ट है कि भक्तिकाल और समकालीन काल सामाजिक चेतना की दृष्टि से सबसे अधिक मुखर हैं। दोनों युगों में हाशिये के समुदायों ने स्वयं अपनी आवाज़ उठाई। यही कारण है कि आज के दलित चिंतक कबीर और रैदास को अपनी परंपरा के पुरखे मानते हैं (ओमवेट, 2008; हंट, 2014)।

7.3 सामाजिक परिवर्तन में हिंदी साहित्य की भूमिका

हिंदी साहित्य ने सामाजिक परिवर्तन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार की भूमिका निभाई है। संत-वाणी ने सदियों तक लोकमानस में समानता के मूल्य को जीवित रखा। नवजागरणकालीन पत्रकारिता ने सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना के लिए सार्वजनिक बहस का मंच तैयार किया (ओरसिनी, 2002; तलवार, 2002)। प्रेमचंद और प्रगतिशील साहित्य ने किसान-मज़दूर के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बनाया (गोपाल, 2005)। दलित आत्मकथाओं ने जाति के अनुभव को सार्वजनिक स्मृति में दर्ज किया और नीति-निर्माण तथा अकादमिक जगत को प्रभावित किया (कुमार, 2010; ब्रुएक, 2014)।

7.4 वर्तमान समय में हिंदी साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता

आज जब समाज बाज़ार, डिजिटल माध्यमों और ध्रुवीकरण से गहरे प्रभावित है, साहित्य की सामाजिक भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो गई है। साहित्य संवेदना को जीवित रखता है और 'दूसरे' के अनुभव को समझने का अवसर देता है। पर्यावरण, विस्थापन, किसान-संकट, लैंगिक हिंसा और सांप्रदायिकता जैसे प्रश्नों पर हिंदी साहित्य निरंतर हस्तक्षेप कर रहा है। सोशल मीडिया और वेब-पत्रिकाओं ने नए रचनाकारों, विशेषकर हाशिये के समुदायों से आने वाले लेखकों, को अभिव्यक्ति का लोकतांत्रिक मंच दिया है। इस प्रकार हिंदी साहित्य आज भी सामाजिक चेतना का जीवंत वाहक बना हुआ है।

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

फिर भी कुछ चुनौतियाँ गंभीर हैं। पाठकों की घटती संख्या, प्रकाशन का बाज़ारीकरण और लोकप्रिय माध्यमों का दबाव गंभीर साहित्य की पहुँच को सीमित कर रहे हैं। विमर्शों का अलग-अलग खानों में बँट जाना भी एक समस्या है, क्योंकि जाति, लिंग, वर्ग और पर्यावरण के प्रश्न वास्तव में एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं (रेगे, 2006)। इस स्थिति में हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर करेगी कि वह विभिन्न अस्मिताओं के बीच संवाद स्थापित कर पाता है या नहीं। अनुवाद, विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम और सामुदायिक पठन-पाठन की परंपराएँ इस संवाद को मज़बूत कर सकती हैं। कबीर की प्रश्नाकुलता और प्रेमचंद की जनपक्षधरता आज भी इस दिशा में प्रेरणा का स्रोत हैं।

8. निष्कर्ष

इस खंड में संपूर्ण अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष संक्षेप में प्रस्तुत हैं, जो हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना के निरंतर विकास और उसकी वर्तमान प्रासंगिकता को स्पष्ट करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना एक सतत विकासशील प्रक्रिया रही है। प्रत्येक युग ने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप इस चेतना को नया स्वरूप दिया। आदिकाल में यह सामंती गौरव और धार्मिक असहमति के रूप में, भक्तिकाल में आध्यात्मिक समानता और जाति-विरोध के रूप में, रीतिकाल में सीमित नीति-बोध के रूप में, आधुनिक काल में नवजागरण, राष्ट्रवाद और यथार्थवाद के रूप में तथा समकालीन काल में दलित, स्त्री और आदिवासी अस्मिता के रूप में प्रकट हुई।

इस विकास-यात्रा की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि साहित्य क्रमशः अभिजात वर्ग के दायरे से निकलकर हाशिये के समुदायों की आवाज़ बना। कबीर और रैदास से लेकर प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि तक, हिंदी साहित्य ने अन्याय के विरुद्ध प्रश्न उठाने और समतामूलक समाज की कल्पना करने की परंपरा को जीवित रखा है। यही परंपरा हिंदी साहित्य को आज भी सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक बनाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, पी. (2009). अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका समय. राजकमल प्रकाशन.
2. ओमवेट, जी. (2008). बेगमपुरा की खोज: जाति-विरोधी बुद्धिजीवियों की सामाजिक दृष्टि. नवयान.
3. ओरसिनी, एफ़. (2002). हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र 1920–1940: राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. कुमार, आर. (2010). दलित आत्मकथात्मक आख्यान: जाति, राष्ट्र और पहचान का पाठ. ओरिएंट ब्लैकस्वान.
5. कैलेवार्ट, डब्ल्यू. एम., शर्मा, एस., एवं टेलियू, डी. (2000). सहस्राब्दी कबीर वाणी: पदों का संग्रह. मनोहर.

International Journal of Engineering, Science and Humanities
An international peer reviewed, refereed, open-access journal
Impact Factor 5.3 www.ijesh.com ISSN: 2250-3552

6. खाखा, वी. (2008). राज्य, समाज और जनजातियाँ: उत्तर-औपनिवेशिक भारत के मुद्दे. पियर्सन लॉन्गमैन.
7. गुप्ता, सी. (2001). कामुकता, अश्लीलता, समुदाय: औपनिवेशिक भारत में स्त्रियाँ, मुसलमान और हिंदू सार्वजनिक क्षेत्र. परमानेंट ब्लैक.
8. गोपाल, पी. (2005). भारत में साहित्यिक उग्र-परिवर्तनवाद: लिंग, राष्ट्र और स्वतंत्रता की ओर संक्रमण. रूटलेज.
9. तलवार, वी. बी. (2002). रस्साकशी: उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत. सारांश प्रकाशन.
10. धारवाडकर, वी. (2003). कबीर: जुलाहे के गीत. पेंगुइन बुक्स.
11. पोलॉक, एस. (2006). मनुष्यों की दुनिया में देवताओं की भाषा: पूर्व-आधुनिक भारत में संस्कृत, संस्कृति और सत्ता. यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस.
12. ब्रुएक, एल. आर. (2014). प्रतिरोध का लेखन: हिंदी दलित साहित्य की अलंकारिक कल्पनाशीलता. कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस.
13. बुश, ए. (2011). राजाओं की कविता: मुग़ल भारत का शास्त्रीय हिंदी साहित्य. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. भारती, के. (2006). दलित साहित्य की अवधारणा. बोधिसत्व प्रकाशन.
15. मैक्ग्रेगर, आर. एस. (2003). हिंदी की प्रगति, भाग 1: एक अंतर-क्षेत्रीय मुहावरे का विकास. एस. पोलॉक (सं.), इतिहास में साहित्यिक संस्कृतियाँ: दक्षिण एशिया से पुनर्निर्माण (पृ. 912–957). यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस.
16. रेगे, एस. (2006). जाति का लेखन/लिंग का लेखन: दलित स्त्रियों के गवाही-आख्यान. ज़ुबान.
17. लिंबाले, एस. (2004). दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की ओर: इतिहास, विवाद और विचार (ए. मुखर्जी, अनु.). ओरिएंट लॉन्गमैन.
18. लॉरेन्ज़ेन, डी. एन. (सं.). (2004). दक्षिण एशिया में धार्मिक आंदोलन, 600–1800. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
19. लॉरेन्ज़ेन, डी. एन. (2006). हिंदू धर्म का आविष्कार किसने किया? इतिहास में धर्म पर निबंध. योडा प्रेस.
20. वाल्मीकि, ओ. (2001). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन.
21. हंट, एस. बी. (2014). हिंदी दलित साहित्य और प्रतिनिधित्व की राजनीति. रूटलेज.
22. हेस, एल., एवं सिंह, एस. (अनु.). (2002). कबीर की बीजक. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
23. हॉली, जे. एस. (2005). भक्ति की तीन आवाज़ें: मीराबाई, सूरदास और कबीर — उनके समय में और हमारे समय में. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.